Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 16, Issue No. 6, May-2019, ISSN 2230-7540

जनजाति समाज के आर्थिक विकास में वनों का महत्व (दक्षिण राजस्थान के विशेष सन्दर्भ में)

Kantilal Ninama*

Research Scholar, Department of History, Maharishi Dayanand Saraswati University, Ajmer, Rajasthan

सारांश - जनजातीय अर्थव्यवस्था के विकास की यात्रा भूख और भय से मुक्ति के प्रयास तथा सुरक्षित आवास एंव भोजन से प्रारम्भ होकर वनों के इर्द-गिर्द संघर्ष की निरन्तरता है। वन धरती पुत्र जनजातियों की बहुमूल्य प्राकृतिक सम्पति है जिसके सहारे उनकी सामाजिक, आर्थिक एंव पारिस्थितिकीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। आदिमकाल से जनजाति संस्कृति व वनों का चोली दामन का साथ रहा है। प्रारंभ से ही जनजातियों का निवास वन क्षेत्रो में ही रहा है। वनों ने जनजातीय जीवन एंव संस्कृति के उद्भव, विकास तथा संरक्षण में आधारभूत भूमिका प्रस्तुत की है। प्राचीन काल से जनजातीय लोग जंगलों को अपनी सम्पति का प्रमुख अंग मानते है। भीलों का जीवन वनों पर ही आश्रित था। अपनी आजीविका के लिए वनों के संरक्षण में विभिन्न प्रकार की उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग करते थे। अट्ठारहवीं शताब्दी में दक्षिणी राजस्थान मे क्रमशः मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा रियासतों में वनों का सघन आवरण था। इन क्षेत्रों में पाए जाने वाले प्रमुख पेड़ों के नाम इस प्रकार थे बबूल, बेर, चन्दन, धोक, धामन, धावड़ा गुदी, हल्दू, इमली, जामुन, कजरी, खेजडी, खेड़ा, कुमटा, महुआ, नीम, पीपल, सागवान, आम, मुमटा, सालर, बानोटीया, गुलर, बांस आदि वृक्षों के घनघोर जंगल थे। इन जंगलों से प्राप्त विविध सामग्री का निःशुल्क उपयोग करते थे तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

मुख्य शब्द - जनजाति समाज, आर्थिक विकास, वनों का महत्व, वन संरक्षण, दक्षिण राजस्थान, डामोर, गरासिया, भील, मीणा, वन सम्पदा का उपयोग, कृषि कार्य, धावड़ा, नीम, सागवान बैर, बबूल इत्यादि।

---------------------------------X---------------------------------

राजस्थान का सुदूर दक्षिणी भाग वागड़ प्रदेश के नाम से विख्यात है। वागड़ के बांसवाड़ा और डूंगरपुर जिले जनजाति उपयोजना क्षेत्र में समम्मिलित है। यह दोनों ही जिले भील जनजाति बाहुल्य जिले है। परन्तु इस क्षेत्र में डामोर, गरासिया और भील-मीणा जनजातियाँ भी निवास करती है। लगभग 70 प्रतिशत जनजातीय आबादी वाला वागड़ का विशाल क्षेत्र 23◦1 से 24◦1 उत्तरी अक्षांश 73◦1 से 74◦1 पूर्वी देशान्तरों के मध्य स्थित है जिसका क्षेत्रफल करीब 4000 वर्ग मील है।[1]

यह जनजातीय बाहुल्य क्षेत्र आधुनिक चमक-दमक से कटा हुआ अवश्य है तथापि प्राचीन सांस्कृतिक, पम्परा अक्षुण्ण बनाए रखने में अग्रणी है। वागड़ की जनजातियों के धार्मिक आस्थाओं ओर विश्वासों से प्रकट होता है कि जनजातीय सामाजिक जीवन सोलह संस्कारों में बंधा हुआ है।[2] जनजातीय प्रायः शहरी सभ्यता से बहुत दूर घने जंगलों, पर्वतों, घाटियों एवं पठारी क्षेत्रों में निवास करते है। भारतीय संविधान 1950 के अनुच्छेद उपखण्ड 1 में सूचना द्वारा जनजाति या जनजातियों के भीतरी समूह में परिभाषित किये जायेगे वे सब अनुसूचित जनजाति कहलायेगे।[3]

जनजातियों की अर्थव्यवस्था

भारत में प्राचीन काल से जनजातियां जंगलों में अपना जीवन यापन करती रही है। इन जनजातियों का मुख्य व्यवसाय कृषि करना, वन उपज को एकत्रित करना, पशुपालन, आखेट जंगलों से अनउपयोगी लकडियाँ निकालना, झुम पद्धति से कृषि करना मिलने पर मजदूरी करना आदि रहा है।[4] आदिम जनजातियों का आर्थिक दृष्टि से विभाजन मजूदामर तथा मदान[5] ने चार वर्गों में विभाजित किया है।

1. भारतीय आदिवासी जनजातियों का एक बडा भाग वनों पर निर्भर रहा है। यह प्रायः वनों में या उनके निकट निवास करते है। भोजन जमा करना ही

www.ignited.in

उनकी अर्थव्यवस्था की प्रमुखता है। ये लोग झुम प्रद्वति से कृषि करते है।

2. दूसरी श्रेणी में वे आदिवासी आते है जो भोजन संग्रहीता तथा आदिम कृषि व्यवस्था के प्रकारों के बीच है।

3. तीसरी श्रेणी में कृषि के साथ साथ जंगलों से वनपत्तों का संचय करते है।

4. चौथी श्रेणी में स्थायी कृषि जो हल एवं उनसे सम्बन्धित पशुओं का प्रयोग कृषि कार्य में करते है।

खेती ओर उनके तरीके

जनजातियों ने बिना किसी भय के संघन वनों में जंगली जानवरों व प्राकृतिक आपदाओं से लड़ते हुए अपने जीवन को संघर्षमय बनाया। उन्होंने कृषि के लिए सर्वप्रथम जंगलों को काटकर जलाया। भूमि साफ कर कृषि के योग्य बनाई और पशुपालन को प्रोत्साहन दिया। धीरे-धीरे विभिन्न गाँवों तथा कस्बों का निर्माण किया गया। जनजातीय लोग प्रारम्भ से ही प्रकृति पूत्र रहे है। उनका आर्थिक जीवन भी बड़ा विचित्र रहा है। उनके जीवन में आर्थिक व्यवस्था तथा भौतिक वातावरण में प्रकृति का बड़ा योगदान रहा है। अतः स्वभाविक है कि आदिम मानव पर भी उनकी विभिन्न आवशयकताओं के निर्धारण में आर्थिक पक्ष महत्वपूर्ण माना जाता है।[6]

जनजातियों की अधिकांश जनसंख्या दुर्गम क्षेत्रों में निवास करती है। ये संचार के संसाधनों, नगरों और कस्बों से दूर थे, फलतः सम्पर्क के अभाव में गैर जनजातीय क्षेत्रों की कृषि सम्बन्धी उन्नत विधियों से जनजातीय लोग अनभिज्ञ रहे है। सिंचाई के साधनों का अभाव, उपजाऊ भूमि की कमी के कारण ये लोग परम्परागत कृषि व्यवस्था को अपनाये रहे है। मध्यकाल में दक्षिणी राजस्थान में वागड़ की जनजातियां दाजिया या झुमटों प्रद्वति से भूमि को साफकर कृषि करने लगे। इस प्रद्वति के अन्तर्गत जनजातियों द्वारा जंगलों को काट कर जला दिया जाता था। जलाये गये स्थान को कुंदाली, गैती आदि औजारों से समतल बना देते थे तथा बारिश के दिनों में जब भूमि में नमी बढ़ जाती जब उन्हें औजारों से खोद कर बीज डाल देते थे। फसल बोने एवं काटने के समय एक कृषक को अन्य जनजातीय परिवार के सदस्य भी सहयोग देते थे। इस प्रकार के सहयोग को हल्मा[7] कहा जाता था।

उन्नीसवीं शताब्दी में जनजातियों ने व्यवस्थित तथा स्थायी कृषि कि और विशेष ध्यान दिया। इस समय उन्होंने खेती के तरीकों में सुधार करते हुए लकडी़ से बने हल का उपयोग करना आरम्भ किया। उन्होंने नये कुएं खोदने के कार्य भी प्रारम्भ किये। कृषि तथा अन्य कार्य को संयुक्त रूप से आपस में मिलकर किया जाने लगा।

आखेट

जनजातीय संस्कृति का जंगल से चोली दामन का साथ रहा है। वनों के सहारे जनजातियों ने अपनी संस्कृति को विकसित किया घने जंगलों में विचरण करते हुए उन्होंने जंगली जानवरों शेर, भालु, सुअर, गेंडे, सर्प, अजगर, बिच्छु आदि से बचने के लिए आखेट का सहारा लिया। वनों एवं पहाडियों के आन्तरिक भागों में रहते हुए भील जाति शिकार करके अपनी आजीविका चलाते थे। मध्य काल में बाहरी आक्रमणकारियों ने इनके प्रदेशों पर अधिकार कर लिया तब उनकी स्वतन्त्रता का हनन हुआ। इससे पहले भील जनजाति जंगलों में झुम पद्धति से खेती पशुपालन, मजदूरी तथा आखेट स्वतन्त्र रूप से करती है। आखेट के मामले में भील बडे ही निपूर्ण थे। इनका निशाना बड़ा अचुक होता था।[8]

वन सम्पदा का उपयोग

प्राचीन काल से जनजातीय लोग जंगलों को अपनी सम्पति का प्रमुख अंग मानते है। भीलों का जीवन वनों पर ही आश्रित था। अपनी आजीविका के लिए वनों के संरक्षण में विभिन्न प्रकार की उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग करते थे। अट्ठारहवी शताब्दी में दक्षिणी राजस्थान मे क्रमशः मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाडा़ रियासतों में वनों का सघन आवरण था। इन क्षेत्रों में पाए जाने वाले प्रमुख पेडों के नाम इस प्रकार थे बबुल, बेर, चन्दन, धोक, धामन, धावडा़ गुदी, हल्दू, इमली, जामुन, कजरी, खेजडी़, खेडा़, कुमटा, महुआ, नीम, पीपल, सागवान, आम, मुमटा, सालर, बानोटीया, गुलर, बांस आदि वृक्षों के घनघोर जंगल थे। इन जंगलों से प्राप्त विविध सामग्री का निःशुल्क उपयोग करते थे तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

लघु वन उत्पादित वस्तुऐं-

दक्षिण राजस्थान के वनों में उत्पादित वस्तुओं मे प्रमुख है - अरीठा, आंवला, गोंद, धावडा़ बबुल, खेर, केलडी, कडैया, आवर, सेलाई वृक्षों से करा, कत्था, लाख, मौम धोली व काली मुसली, शहद इत्यादि।[9]

www.ignited.in

जडी-बुटियाँ

जडीबुटीयों का उपयोग जनजातीय लोग विभिन्न तरह के रोगों के निवारण के लिए करते थे जिनमें प्रमुख -आँवला का बीज, हेतडी आमेदा, आक, करनीया, ब्राह्मी, बोहडा रोंजडा, भोग पत्तियां धतुरा बीज हड भुजा, कनकी बीज, मेंण, अमरा, कोली, कादां, पडूला, गीगचा इत्यादि का उपयोग करते थे। आमेदा के बीजों को पीसकर खाने से दस्त बंद होती है। अरण्डी के तेल से मालिश एंव पत्तों को गर्म कर के कमर में बाँधने से दर्द कम होता था। बुखार के लिए कड़ा वृक्ष के बीजों को पीस कर पीते थे।[10] जोडों में दर्द के लिए ग्वार व सैजने के गोंद का उपयोग करते थे। फोडे फुन्सियों एव चर्म रोग के लिए नीम के पत्तों को उबालकर पीते थे। इसके अतिरिक्त तुलसी लौंग, सोठ, पीपल, काली मिर्च का उपयोग बुखार एवं जुखाम के लिए करते थे।

व्यापार के रूप में उपयोग

व्यापार-वाणिज्य के लिए जनजातीय लोग अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को खरीदने के लिए तेंदु पत्ते का संग्रह करके बीडी बनाते थे तथा गोद रबड़ को अपने आस-पास के गाँवों कस्बों में बेचने जाते थे। मुख्य रूप से खेर जैसने, धावडे उदलरे आदि का गोंद यहाँ के जंगलों में मिलता था।[11] रस्सी बनाने के लिए खाकरा, जूट, पानी जुला सवा आदि। महुआ के फलों का तेल निकालने के अतिरिक्त खाने, शराब बनाने एवं कस्बों में बेचा भी जाता था। बांस की लकडी छीलकर ये टोकरियाँ बनाने, सूप झाडू कोठियां, पंखे सीढियाँ बनाकर बेचा करते थे। भील महिलायें घास एवं विभिन्न तरह की लघु वन सम्पति को एकत्रित करके निकट कस्बों में बेचने जाती थी। भील इन सभी वस्तुओं की बिक्री स्थानीय हाटों एवं मेलों के माध्यम से भी करते थे। प्राचीन काल में गुजरात व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बाजार था। इसकी सीमाएं दक्षिणी राजस्थान के राज्यों से मिलती थी। अतः यहाँ के भील महुआ के फूल और धावडी गोंद को अहमदाबाद रतनपुर एवं बडौदा तक बेचने जाते थे।[12]

ईंधन के रूप में उपयोग

जलाने के लिए प्रमुख रूप से सांटेडा, काकुन, बबुल, बावरिया, गुजर, बैर, धोंक की लकडी का उपयोग किया जाता था। अपने हथियार तीर-कमान बनाने के लिए सादेडा तथा बांस लकडी का उपयोग किया जाता था। पशुओं का चारा कलम, जंगम, सालर वोपारिया, गुलर मौखा, नरम दाल, मीठी छाल, दूब, वनफल, आदि वनों से निःशुल्क प्राप्त होता था। कृषि कार्य मे धामन, वावरिया, धावडा, नीम, सागवान बैर, बबूल, रेतुआ का उपयोग हल हमाडी, जोहरा बनाने के लिए किया जाता था। अपने मकान बनाने के लिए जनजातियाँ शीशम आदि की लकडी का उपयोग करते है। जंगलों से जनजातियों को प्रकृति द्वारा स्वंच्छ वातावरण, स्वच्छ जल, नदियाँ, नाले झरने, पशु-पक्षियों का कोलाहल सीमित तापमान, हरियाली, आर्द्रता, समय पर वर्षा, मिटटी कटाव से रोक, आंधी एंव तूफानों से रक्षा, प्राकृतिक खाद, बाढ़ पर नियंत्रण, वन्य प्राणियों का शिकार व मनोरंजन इत्यादि निःशुल्क उपलब्ध होते थे। इसलिए जनजाति की संस्कृति में प्रकृति का हमेशा घनिष्ठ सामंजस्य रहा है।[13]

वनों का आर्थिक महत्व

वन आदिवासियों की धरोहर रहे है। वनों के संरक्षण से आदिवासियों की अर्थव्यवस्था को गति एवं संस्कृति को गरिमा प्रदान होती रही है। वस्तुतः वन आदिवासियों के पोषक रहे है जिनसे उन्हें विभिन्न प्रत्यक्ष लाभ जैसे-ईंधन, मवेशियों के लिए चारा, मकान निर्माण के लिए लकडी, खाद, फल-फूल, सब्जियों, खाने योग्य कन्दमूल विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ जडी-बूटियाँ अनेक वाणिज्य उपयोगी लघु वन उत्पादित वस्तुएं आदि प्राप्त हुए। अप्रत्यक्ष लाभ-स्वच्छ और शीतल वायु, पक्षियों का कलरव संतुलित तापमान, समय पर वर्षा हरियाली, खुश्बू आँधी और तूफान से रोक तथा बाढ़ आदि से बचाव भी होता रहा है।

एस. एन. व्यास के अनुसार सन् 1948 में राजस्थान के गठन के बाद जनजातियों को 1749-55 की समयावधि में वनों के उपयोग की अधिक सुविधाएं प्रदान की गयी जो क्रमशः इस प्रकार है।

1. हर जनजाति परिवार को हर तीन साल में मकान निर्माण के लिए 158 घन फीट लकडी और 15 घन फीट काष्ट कृषि उपकरणों हेतु दिया जायेगा।
2. ईंधन मुफ्त दिया जायेगा।
3. वन क्षेत्र में मवेशियों को चरने दिया जायेगा।
4. घेराबंदी के लिए मुफ्त झाड़ियाँ प्रदान करना।
5. घास एवं पत्तियों का चारा मुफ्त प्रदान किया जायेगा आदि रियायतें प्रदान की गयी ।

वर्तमान में वन विभाग द्वारा आरक्षित एवं सुरक्षित वनों पर भी आदिवासियों के अधिकार लुप्त हो गए है। वनों एवं उनकी रियायतों पर प्रतिबंध लगा दिए तथा इनका उल्लंघन करने

www.ignited.in

वालों को उचित दण्ड का प्रावधान रखा गया परिणामस्वरूप राज्य के विभिन्न आदिवासी लोग वन उत्पादित वस्तुओं से वचित हो रहे है।[14]

वनों से कई लाभ होते है जो जलवायु को कम व सम बनाना, वर्षा आकर्षित करना, बाढ़ व आधियों के प्रकोप को कम करना भूमिक्षरण को नियंत्रित रखना, वनस्पति अंश प्रदान करके मिटटी में हुमस तत्व के द्वारा उत्पादकता बढ़ाना, भूमिगत जल स्तर को बनाये रखना, वन जीवों को संरक्षण प्रदान करना, वन वर्षा के समय जल के प्रवाह को नियंत्रित करते है तथा मृदा अपरदन एवं बाढ़ की समस्याओं पर नियत्रंण रखने के लिए प्रभावी भूमिका निभाते है। ये वनस्पति एवं जीव जगत की अनेक प्रजातियों को संरक्षण प्रदान करते है।

वनों के विनाश से इन सभी लाभों से मानवता वंचित होती जा रही है। अत्यधिक आर्थिक महत्व होने से आधुनिक युग में वनों का अदूरदर्शितापूर्ण ढंग से दोहन किया जा रहा है। विश्व पर्यावरण एवं विकास आयोग के अनुसार विश्व में प्रतिवर्ष 110 लाख हैक्टर भूमि के वन नष्ट किये जा रहे है पर्यावरण विशेषज्ञ के अनुसार प्रत्येक देश में उपलब्ध भूमि के लगभग 33 प्रतिशत भाग पर वन होना आवश्यक है। भारत में केवल 19 प्रतिशत भू-भाग पर ही वन पाये जाते है। राजस्थान में कुल क्षेत्रफल का 9.49 प्रतिशत भाग वनों से आच्छादित है। राजस्थान में कुल वन क्षेत्र का 39.26 प्रतिशत आरक्षित वन 52.62 प्रतिशत रक्षित वन और 8.48 प्रतिशत अवग्रीकृत वन है। राज्य में प्रति व्यक्ति 0.06 हेक्टेयर वन क्षेत्र ही है जो राष्ट्रीय स्तर पर 0.11 हैक्टेयर प्रति व्यक्ति से कम है।[15]

मानव अपने स्वार्थवंश भौतिक उन्नति के उद्वेश्य से वनों का दोहन करता रहा है। मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव द्वारा भौतिक संसाधनों का प्रयोग जब तक केवल अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति तक संयमित रहा है, तब तक पर्यावरण और पारिस्थितिकीय संतुलन बना रहा है लेकिन आधुनिक काल में तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या से एसी विकट परिस्थिति पैदा हो गई है कि वन संरक्षण के बारे में सोचना आवश्यक हो गया है। पारिस्थितिकीय संतुलन के लिए देश में प्रतिवर्ष-वन महोत्सव व साथ ही मार्च में विश्व वानिकी दिवस तथा अक्टूम्बर के प्रथम सप्ताह को वन्य जीव सप्ताह के रूप में मनाया जाता है।[16] इसमें कोई दो मत नहीं है कि वन और वन्य प्राणियों का विनाश मानवता के लिए दुर्भाग्यपूर्ण स्थित का सूचक है क्योंकि वन्य जीवन के बिना वनों की कोई सार्थकता नही है और वनों के बिना हम जीव जगत का अस्तित्व नहीं हो सकता ।

संन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दोसी, शम्भुलाल/ व्यास, नरेन्द्र एन (1992). “राजस्थान की अनुसूचित जनजातियाँ” हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर पृ.स. 7-8
2. मेहता, जोधसिंह (1954). “आदिवासी भील” साहित्य संस्थान राजस्थान विधापीठ, उदयपुर पृ.स़. 19-20
3. दूबे, एस. सी. (1986). “ट्राइबल हेरिटेज ऑफ़ इण्डिया” विकास पब्लिसिटी हाउस, नई दिल्ली पृ.स. 2-4
4. मीणा, जगदीश चन्द्र (2003). “भील जनजाति का सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन” हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर पृ.स. 49
5. मजुरमदार एवं मदान (1978). “द रेस एण्ड कल्चरल ऑफ़ इण्डिया एंन्थ्रोपोलॉजी”, नई दिल्ली पृ.स. 153
6. तिवारी, शिवकुमार (1998). “कुमार मध्य प्रदेश के आदिवासी” मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल पृ.स. 183-192
7. तिवारी शिव कुमार “मध्यप्रदेश के आदिवासी” पृ.स. 183
8. “रिपोर्ट ऑन एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़ डूंगरपुर स्टेट” 1918 जिला सार्वजनिक पुस्तकालय डूंगरपुर
9. “एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ़ डूंगरपुर स्टेट”, 1939 पृ.स. 23
10. अर्सकिन “मेवाड़ गजेटियर” “भाग-2 पृ.स. 127, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, उदयपुर
11. सिगलीगर, पूनम “वन एवं आदिवासी समाज” पृ.स. 61, 63
12. एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ़ द मेवाड़ स्टेट 1904-05 पृ.स. 10
13. पलात, रामचन्द्र (1987). “राजस्थान की वनविहारी जनजातियां” श्री नीलकमल पलात एंण्ड ब्रदर्स” पाल झोथरी, भिण्डी जिला-डूंगरपुर राज. पृ.स. 64-67

www.ignited.in

14. जैन श्रींचद (1974). "वनवासी भील और उनकी संस्कृति" रोशनलाल जैन एण्ड संस, जयपुर, पृ.स. 104-106

15. दोसी, शम्भुलाल/व्यास, नरेन्द्र एन (1992). "राजस्थान की अनुसूचित जनजातियां" हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर पृ. स. 69-72

16. सुभाषिनी कपूर (1990). "राजस्थान के भील और लोक संस्कृति" सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली पृ.स. 35

Corresponding Author

Kantilal Ninama*

Research Scholar, Department of History, Maharishi Dayanand Saraswati University, Ajmer, Rajasthan